॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१३]

तत्त्वार्थ सूत्र

[गाथा और अर्थ]

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

साबरमती, अहमदाबाद

॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [१३]

तत्त्वार्थ सूत्र

[गाथा और अर्थ]

—: कर्ता :—

उमास्वातिजी महाराज

—: पूर्वसम्पादिका :—

डॉ. निर्मला जैन

—: संकलन :—

श्रुतोपासक

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदाबाद-३८०००५

Mo. 9426585904

email - ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

प्रकाशक : संवत २०७४

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभण्डार को भेट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
३० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-३८०००२
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02 शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901 गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-१२.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभण्डार,
चंदनबाला भवन, १२९, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-१
फोन : 044-23463107 (मो.) 9389096009

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
७/८ वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद, मो. **8530520629**

Email Id: Virtigrafics2893@gmail.com

प्रथम अध्याय

सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र - ये तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग है।

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

अर्थ - तत्त्व (वस्तु स्वरूप) का अर्थ सहित यह ऐसा ही है ऐसे निश्चय पूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥३॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन निसर्ग या अधिगम दो में से किसी एक प्रकार से उत्पन्न होता है।

जीवाजीवास्त्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥४॥

अर्थ - जीव, अजीव, आस्त्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष - ये सात तत्त्व हैं।

नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्नयासः ॥५॥

अर्थ - नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के द्वारा जीवादि तत्त्वों का न्यास (निक्षेप / लोक व्यवहार) होता है।

प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥

अर्थ - प्रमाण और नय से पदार्थों का ज्ञान होता है।

निर्देशस्वामित्व साधनाधिकरण - स्थिति - विधानतः ॥७॥

अर्थ - निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान से सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च ॥८॥

अर्थ – सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व से भी सम्यग्दर्शन आदि विषयों का ज्ञान होता है।

मतिश्रुतावधि-मनःपर्याय केवलानि ज्ञानम् ॥९॥

अर्थ – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय-ज्ञान और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं।

तत् प्रमाणे ॥१०॥

अर्थ – वह पाँचों प्रकार का ज्ञान दो प्रमाण रूप है।

आद्ये परोक्षम् ॥११॥

अर्थ – प्रथम दो ज्ञान (मति और श्रुत) परोक्ष प्रमाण हैं।

प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥

अर्थ – शेष तीन ज्ञान (अवधि, मनःपर्याय और केवल) प्रत्यक्ष प्रमाण रूप हैं।

मति, स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

अर्थ – मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध ये सब मति-ज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं, इनके अर्थ में कोई अन्तर नहीं है।

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमितम् ॥१४॥

अर्थ – वह (मतिज्ञान) इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के निमित्त से होता है।

अवग्रहेहापायधारणाः ॥१५॥

अर्थ – मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा

ये चार भेद हैं ।

बहु-बहुविध-क्षिप्रा-ऽनिश्रिता-ऽसंदिग्ध-ध्रुवाणां सेतराणाम् ॥१६॥

अर्थ - बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव - ये छः तथा (सेतराणामप्रतिपक्ष सहित) अर्थात् इनसे विपरीत, एक, एकविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव - ये छः इस तरह कुल बारह प्रकार से अवग्रह, ईहा आदि रूप मतिज्ञान होता है ।

अर्थस्य ॥१७॥

अर्थ - अवग्रह, ईहा, अपाय और धारण - इन चारों से अर्थ (वस्तु का प्रकट रूप) ग्रहण होता है ।

व्यञ्जनस्यावग्रह ॥१८॥

अर्थ - व्यंजन (अप्रकट रूप पदार्थ) का केवल अवग्रह ही होता है ।

न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१९॥

अर्थ - चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता ।

श्रुतं मतिपूर्व द्वयनेक-द्वादशभेदम् ॥२०॥

अर्थ - श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है । जिसके दो, अनेक तथा बारह भेद होते हैं ।

द्विविधोवधिः ॥२१॥

अर्थ - अवधिज्ञान दो प्रकार के हैं । १. भवप्रत्यय और २. गुणप्रत्यय या क्षायोपशमिक ।

तत्रभवप्रत्ययो नारक देवानाम् ॥२२॥

अर्थ – भवप्रत्यय अवधिज्ञान नारक और देवों को होता है ।

यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणाम् ॥२३॥

अर्थ – गुणप्रत्यय (क्षायोपशमिक) अवधिज्ञान छः प्रकार के हैं और वह मनुष्य और तिर्यंच संज्ञी पंचेन्द्रिय को होता है।

ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः ॥२४॥

अर्थ – ऋजुमति और विपुलमति ये दो मनःपर्याय ज्ञान के भेद हैं ।

विशुद्ध्यपतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥२५॥

अर्थ – विशुद्धि और अप्रतिपाती की अपेक्षा से इन दोनों में अन्तर है ।

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयेभ्योऽवधि-मनः-पर्याययोः ॥२६॥

अर्थ – विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय के द्वारा अवधि और मनःपर्यायज्ञान में अन्तर होता है ।

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्व द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥२७॥

अर्थ – मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय सर्वद्रव्य होते हैं किन्तु उनकी सर्वपर्याय नहीं ।

रूपिष्ववधेः ॥२८॥

अर्थ – अवधिज्ञान का विषय सर्वपर्यायरहित केवल रूपी द्रव्य होते हैं ।

तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥२९॥

अर्थ – मनःपर्यायज्ञान का विषय अवधिज्ञान का अनंतवाँ भाग होता है ।

सर्व द्रव्य-पर्यायेषु केवलस्य ॥३०॥

अर्थ – सभी द्रव्य के सभी पर्याय केवलज्ञान के विषय हैं।

एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥३१॥

अर्थ – एक साथ एक जीव को एक से लेकर चार ज्ञान विकल्प से अनियत रूप से हो सकते हैं ।

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥३२॥

अर्थ – मति, श्रुत और अवधि ये तीनों विपर्यय (अज्ञान रूप) भी हैं ।

सदसतोरविशेषाद् यदृच्छोपलब्धेरून्मत्तवत् ॥३३॥

अर्थ – सत् (वास्तविक) और असत् (काल्पनिक) पदार्थों में भेद नहीं करने से यदृच्छोपलब्ध (चाहे जैसा मानने के कारण) मिथ्यादृष्टि का ज्ञान उन्मत्त की तरह अज्ञानरूप ही होता है।

नैगम-संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्र-शब्दा नयाः ॥३४॥

अर्थ – नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द ये पाँच नय हैं ।

आद्य-शब्दौ द्वि-त्रि भेदौ ॥३५॥

अर्थ – आद्य अर्थात् प्रथम नैगम नय के दो और शब्द नय के तीन भेद हैं ।

द्वितीय अध्याय

औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिक पारिणामिकौ च ॥१॥

अर्थ - औपशमिक, क्षायिक, मिश्र (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक ये पाँचों ही भाव जीव के स्वतत्त्व है ।

द्वि-नवा-ऽष्टादशैकविंशति-त्रि भेदा यथाक्रमम् ॥२॥

अर्थ - औपशमिक आदि भावों के क्रमशः दो, नौ, अट्ठारह, इक्कीस तथा तीन, इस तरह कुल ५३ भेद होते हैं ।

सम्यक्त्व चारित्रे ॥३॥

अर्थ - औपशमिक भाव के दो भेद होते हैं - औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र ।

ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोग-वीर्याणि च ॥४॥

अर्थ - ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य ये सात तथा 'च' शब्द से संकेतिक पूर्व सूत्र में उक्त सम्यक्त्व और चारित्र ये नौ क्षायिक भाव हैं ।

ज्ञान-ऽज्ञान-दर्शन, दानादि-लब्धयश्चतुस्त्रि त्रिपंच भेदाः यथाक्रमं सम्यक्त्व-चारित्र-संयमासंयमाश्च ॥५॥

अर्थ - क्षायोपशमिक भाव के अठारह भेद हैं - चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ।

गति-कषाय-लिंग-मिथ्यादर्शना-ऽज्ञाना-ऽसंयता-

ऽसिद्धत्व-लेश्याश्चतुश्चतुस्त्र्येकैकैकैकषड्भेदाः ॥६॥

अर्थ - औदयिक भाव के इक्कीस भेद होते हैं - चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, असिद्धत्व और छः लेश्या ।

जीव-भव्या-ऽभव्यत्वादीनि च ॥७॥

अर्थ - जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन तथा अन्य भी पारिणामिक भाव हैं ।

उपयोगो लक्षणम् ॥८॥

अर्थ - जीव का लक्षण उपयोग है ।

स द्विविधो-ऽष्ट-चतु-र्भेदः ॥९॥

अर्थ - वह उपयोग दो प्रकार का है - ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का और दर्शनोपयोग चार प्रकार का है ।

संसारिणो मुक्ताश्च ॥१०॥

अर्थ - जीव के दो भेद होते हैं, संसारी और मुक्त।

समनस्का-ऽमनस्काः ॥११॥

अर्थ - संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं, मन सहित और मन रहित ।

संसारिणस्त्रस-स्थावराः ॥१२॥

अर्थ - पुनः संसारी जीवों के दो भेद हैं, त्रस और स्थावर।

पृथिव्यम्बु-वनस्पतयःस्थावराः ॥१३॥

अर्थ - पृथ्वीकाय, अपकाय, वनस्पतिकाय - ये तीन

स्थावर जीव हैं ।

तेजो-वायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥१४॥

अर्थ - तेउकाय, वायुकाय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय त्रस जीव होते हैं ।

पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥

अर्थ - इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की होती हैं ।

द्विविधानि ॥१६॥

अर्थ - ये पाँचों इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं ।

निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम् ॥१७॥

अर्थ - द्रव्येन्द्रिय के दो प्रकार हैं, निर्वृत्ति और उपकरण ।

लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम् ॥१८॥

अर्थ - भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं, लब्धि और उपयोग

उपयोगः स्पर्शादिषु ॥१९॥

अर्थ - उपयोग स्पर्शादि विषयों में होता है ।

स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि ॥२०॥

अर्थ - स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं ।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दास्तेषाम् अर्थाः ॥२१॥

अर्थ - स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द - ये क्रमशः इन विषयों को ग्रहण करती हैं ।

श्रुत-मनिन्द्रियस्य ॥२२॥

अर्थ - श्रुत मन का विषय है ।

वाय्वन्तानामेकम् ॥२३॥

अर्थ – वायुकाय पर्यन्त जीवों की एक ही इन्द्रिय ही होती है ।

कृमि-पिपीलिका-भ्रमर-मनुष्यादीनामेकैक-वृद्धानि ॥२४॥

अर्थ – कृमि, चींटी, भंवरा और मनुष्य आदि की क्रमशः एक-एक इन्द्रिय अधिक होती है ।

संज्ञिनः समनस्काः ॥२५॥

अर्थ – मन वाले जीव संज्ञी होते हैं ।

विग्रहगतौ कर्म योगः ॥२६॥

अर्थ – विग्रहगति में कार्मण योग रहता है ।

अनुश्रेणि गतिः ॥२७॥

अर्थ – गति, श्रेणि के अनुसार होती है ।

अविग्रहा जीवस्य ॥२८॥

अर्थ – मुक्त जीव की गति विग्रहरहित होती है ।

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥२९॥

अर्थ – संसारी जीव की गति विग्रहरहित और विग्रह सहित होती है । उसमें विग्रहवाली गति चार समय से पहले अर्थात् तीन समय तक होती है ।

एक समयोऽविग्रहः ॥३०॥

अर्थ – एक समयवाली गति विग्रहरहित होती है ।

एकं द्वौ वा-ऽनाहारकः ॥३१॥

अर्थ – विग्रहगति में जीव एक या दो समय तक अनाहारी रहता है ।

सम्मूर्च्छन-गर्भोपपाता जन्म ॥३२॥

अर्थ – सम्मूर्च्छन, गर्भ और उपपात ये जन्म के तीन प्रकार ।

सचित्त-शीत-संवृताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३३॥

अर्थ – योनियाँ नौ प्रकार की हैं । सचित्त, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत, अचित, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचिताचित, शीतोष्ण और संवृतविवृत ।

जराय्वण्ड-पोतजानां गर्भः ॥३४॥

अर्थ – जरायुज, अण्डज और पोतज जीवों का गर्भ में जन्म होता है ।

नारकदेवाना-मुपपातः ॥३५॥

अर्थ – नारकियों और देवों का उपपात जन्म होता है। इसका विवेचन सूत्र ३२ में किया गया है ।

शेषाणां सम्मूर्च्छनम् ॥३६॥

अर्थ – शेष जीवों का सम्मूर्च्छन जन्म होता है ।

औदारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-तैजस-कार्मणानि शरीराणि ॥३७॥

अर्थ – औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण – ये शरीर के पाँच प्रकार हैं ।

परं परं सूक्ष्मम् ॥३८॥

अर्थ – आगे–आगे का शरीर सूक्ष्म है ।

प्रदेशतो–ऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥३९॥

अर्थ – प्रदेशों की संख्या की दृष्टि से तैजस से पूर्व के शरीरों का परिमाण असंख्यात गुणा होता है ।

अनन्त गुणे परे ॥४०॥

अर्थ – तैजस और कार्मण शरीरों के प्रदेश क्रमशः अनंतगुणा होते हैं ।

अप्रतिघाते ॥४१॥

अर्थ – दोनों शरीर अबाध्य (बाधा रहित) होते हैं ।

अनादि सम्बन्धे च ॥४२॥

अर्थ – (तैजस और कार्मण) इन दोनों शरीरों का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है ।

सर्वस्य ॥४३॥

अर्थ – ये दोनों शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं ।

तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥४४॥

अर्थ – एक साथ एक जीव के तैजस और कार्मण से लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते हैं ।

निरूपभोग–मन्त्यम् ॥४५॥

अर्थ – अंतिम अर्थात् कार्मण शरीर उपभोग रहित होता है ।

गर्भसम्मूर्च्छनज–माद्यम् ॥४६॥

अर्थ – गर्भज और सर्म्मूच्छिम जीवों का औदारिक शरीर होता है ।

वैक्रिय-मौपपातिकम् ।।४७।।

अर्थ - उपपात जन्म लेने वाले जीवों का वैक्रिय शरीर होता है ।

लब्धि-प्रत्ययं च ।।४८।।

अर्थ - यह लब्धि रूप से भी होता है ।

शुभं विशुद्ध-मव्याघातिचाऽऽहारकं चतुर्दश-पूर्वधरस्यैव ।।४९।।

अर्थ - आहारक शरीर शुभ, विशुद्ध, बाधा रहित और वह चौदह पूर्वधारी को ही होता है ।

नारक-सम्मूर्च्छिनो नपुंसकानि ।।५०।।

अर्थ - नारकी और सम्मूर्च्छिम जीव नपुंसक ही होते हैं ।

न देवाः ।।५१।।

अर्थ - देव नपुंसक नहीं होते ।

औपपातिक-चरमदेहोत्तम-पुरूषा-ऽसंख्येय-वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ।।५२।।

अर्थ - उपपात जन्मवाले, चरमशरीरी, उत्तमदेहवाले और असंख्यात वर्ष की आयुवाले जीव अनपवर्तनीय आयुवाले होते हैं ।

• • •

तृतीय अध्याय

रत्न-शर्करा-बालुका-पंक-धूम-तमो-महातमःप्रभा भूमयो । घनाम्बु-वाताऽऽकाश-प्रतिष्ठाः सप्ताऽधो-ऽधः पृथुतरा ॥१॥

अर्थ - रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ हैं, जो घनाम्बु, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर स्थित है, क्रम से एक दूसरे के नीचे हैं तथा क्रमशः एक दूसरे से अधिक विस्तारवाली हैं ।

तासु नरकाः ॥२॥

अर्थ - उन भूमियों में नरक (नारक) है ।

नित्या-ऽशुभतर-लेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥३॥

अर्थ - नारकी जीव निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं ।

परस्परोदीरित दुःखाः ॥४॥

अर्थ - वे परस्पर एक-दूसरे को दुःख देते रहते हैं ।

संक्लिष्टा-ऽसुरोदीरित-दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥५॥

अर्थ - चौथी नरक भूमि से पहले यानी तीसरी नरक भूमि तक नारकी जीव क्रूर स्वभावी, परमाधामी, देवों के द्वारा दिये गये दुखों से भी पीड़ित होते हैं ।

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्-सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः ॥६॥

अर्थ – उन नारक जीवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम होती है।

जम्बूद्वीप–लवणादयःशुभनामानो द्वीप–समुद्राः ॥७॥

अर्थ – मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि शुभ नाम वाले असंख्य द्वीप तथा लवण समुद्र आदि शुभ नाम वाले असंख्य समुद्र हैं।

द्विर्द्विर्विष्कम्भाः पूर्व–पूर्व–परिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥८॥

अर्थ – ये सभी द्वीप और समुद्र दुगुने दुगुने विस्तार वाले हैं, पूर्व–पूर्व द्वीप समुद्र को घेरे हुए हैं और चूड़ी के आकारवाले हैं।

तन्मध्ये मेरूनाभिर्वृत्तो योजन - शत–सहस्र–विष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥९॥

अर्थ – उन सब (द्वीप–समुद्रों) के मध्य में जम्बू नामक गोलाकार द्वीप है, जो एक लाख योजन चौड़ा है और उसके बीचोंबीच मेरूपर्वत है। अतः मेरू को जम्बूद्वीप की नाभि कहा जाता है।

तत्र भरत–हेमवत–हरि–विदेह–रम्यक्–हैरण्य–वतैरावत–वर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥

अर्थ – जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं – भरत, हैमवत, हरि वर्ष, महाविदेह, रम्यक्, हैरण्यवत और ऐरावत।

तद्विभाजिनः पूर्व परायता हिमवन्महाहिमवन्निषध–नील–रूक्मि–शिखरिणो वर्षधर–पर्वताः ॥११॥

अर्थ – इन क्षेत्रों का विभाजन करनेवाले छः वर्षधर पर्वत हैं – हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी, जो पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं ।

द्वि-र्धातकी खण्डे ॥१२॥

अर्थ – धातकी खण्ड में क्षेत्र और पर्वत जम्बूद्वीप से दुगुने हैं ।

पुष्करार्धे च ॥१३॥

अर्थ – पुष्करवरार्द्धद्वीप में भी (घातकीखण्ड द्वीप के समान) उतने ही क्षेत्र और पर्वत हैं ।

प्राग्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥१४॥

अर्थ – मानुषोत्तर पर्वत के पहले तक ही मनुष्य हैं ।

आर्या म्लेच्छाश्च ॥१५॥

अर्थ – मनुष्य दो प्रकार के हैं १. आर्य और २. म्लेच्छ ।

भरतैरावत-विदेहाः कर्मभूमयो-ऽन्यत्र देवकुरूत्तर-कुरूभ्यः ॥१६॥

अर्थ – देवकुरू और उत्तरकुरू के सिवा, भरत, ऐरावत और विदेह ये सब कर्मभूमियाँ है ।

नृस्थिती परापरेत्रि-पल्योपमाऽन्तर्मुहूर्ते ॥१८॥

अर्थ – मनुष्य की उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम और जघन्य अन्तर्मुहूर्त होती है ।

तिर्यग्योनीनां च ॥१९॥

अर्थ – तिर्यंचों की भी आयु इतनी ही होती है ।

चतुर्थ अध्याय

देवाश्चतुर्निकायाः ॥१॥

अर्थ - देव चार निकायवाले हैं ।

तृतीयः पीतलेश्यः ॥२॥

अर्थ - तीसरा निकाय पीत लेश्या वाला है ।

दशा-ऽष्ट-पंच-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्न-पर्यन्ताः ॥३॥

अर्थ - कल्पोपन्न देवों तक चातुर्निकाय देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं ।

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्या-ऽऽत्मरक्षक-लोकपाला-ऽनीक-प्रकीर्णका-ऽऽभियोग्य-किल्बि-षिकाश्चैकशः ॥४॥

अर्थ - उक्त दस आदि कल्पोपन्न देव भेदों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश पारिषय, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्बिषिक आदि भेदवाले देव हैं ।

त्रायस्त्रिंश-लोकपाल-वर्ज्या-व्यन्तर-ज्योतिष्काः॥५॥

अर्थ - व्यंतर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं ।

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥६॥

अर्थ - प्रथम दो निकाय अर्थात् भवनपति और व्यंतर में दो-दो इन्द्र होते हैं ।

पीतान्तलेश्याः ॥७॥

अर्थ - प्रथम दो निकाय के देव पीत पर्यन्त लेश्यावाले हैं।

काय-प्रवीचारा आ-ऐशानात् ॥८॥

अर्थ - ऐशान स्वर्ग पर्यन्त तक के देव काय प्रवीचार अर्थात् शरीर से विषय-सुख भोगनेवाले होते हैं।

शेषाःस्पर्श-रूप-शब्द-मनः प्रवीचारा द्वयो-र्द्वयोः ॥९॥

अर्थ - शेष देव दो दो कल्पो में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और संकल्प द्वारा विषय सुख भोगते हैं।

परेऽप्रवीचाराः ॥१०॥

अर्थ - बाकी के सब देव विषय रहित होते हैं।

भवनवासिनो-ऽसुर-नाग-विद्युत्सुपर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः ॥११॥

अर्थ - भवनपति देवों के दस भेद हैं - असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार।

व्यन्तराः किन्नर-किंपुरूष-महोरग-गान्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥१२॥

अर्थ - व्यंतर देवों के आठ भेद हैं - किन्नर, किंपुरूष, महोरग, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

ज्योतिष्काः सूर्यश्चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णतार-काश्च ॥१३॥

अर्थ – ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद हैं – सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्ण तारे ।

मेरूप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥१४॥

अर्थ – उक्त पाँचों ज्योतिष्क देव मनुष्य लोक में हमेशा गतिशील रहते हुए मेरूपर्वत की प्रदक्षिणा करते हैं।

तत्कृतः कालविभागः ॥१५॥

अर्थ – उन (गतिशील ज्योतिष्कों) के द्वारा काल का विभाग हुआ है ।

बहि–रवस्थिता ॥१६॥

अर्थ–मनुष्य लोक के बाहर के ज्योतिष्क देव स्थिर होते हैं।

वैमानिकाः ॥१७॥

अर्थ – विमानों में रहने वाले देव वैमानिक हैं ।

कल्पोपन्नाः कल्पातीताश्च ॥१८॥

अर्थ – वैमानिक देव दो प्रकार के हैं – १. कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत ।

उपर्युपरि ॥१९॥

अर्थ – समस्त वैमानिक देव एक साथ न रहते हुए एक–दूसरे के ऊपर ऊपर स्थित हैं ।

सौधर्मेशान–सनत्कुमार–माहेन्द्र–ब्रह्मलोक–लान्तक–महाशुक्र–सहसारेष्वानत–प्राणतयो–रारणा–च्युतयो–र्नवसुग्रैवेयकेषु–विजय–वैजयन्त–जयन्ता–ऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥२०॥

अर्थ - सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, नव ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध इनमें वैमानिक देव रहते हैं ।

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रिया-ऽवधि-विषयतोऽधिकाः ॥२१॥

अर्थ - आयु, सामर्थ्य, सुख, दीप्ति, लेश्या-विशुद्धि, इन्द्रिय, विषय और अवधिज्ञान का बल-ये सातों ऊपर-ऊपर के देवों में अधिक अधिक होते हैं ।

गति-शरीर-परिग्रहा-ऽभिमानतो हीनाः ॥२२॥

अर्थ - गति, शरीर, परिमाण, परिग्रह और अहंकार - ये चारों ऊपर-ऊपर के देवों में हीनहीन होते हैं ।

पीत-पद्म-शुक्ल-लेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥२३॥

अर्थ - दो, तीन और शेष देवलोक में क्रमशः पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या होती है ।

प्राग्-ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥२४॥

अर्थ - ग्रैवेयक के पहले-पहले देवलोकों में कल्प की व्यवस्था होती है ।

ब्रह्मलोका-ऽऽलया लोकान्तिकाः ॥२५॥

अर्थ - लोकान्तिक देवों का निवास स्थान पाँचवां ब्रह्मलोक है ।

सारस्वता-ऽऽदित्य-वह्नि-अरूण-गर्दतोय-तुषिता-ऽव्याबाध-मरूतो-ऽरिष्टाश्च ॥२६॥

अर्थ - लोकान्तिक देव नौ प्रकार के है - १. सारस्वत, २. आदित्य, ३. वह्नि, ४. अरूण, ५. गर्दतोय, ६. तुषित, ७. अव्याबाध, ८. मरूत और ९. अरिष्ट ।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥२७॥

अर्थ - विजयादि चार अनुत्तर विमानों के देव द्विचरम होते हैं ।

औपपातिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥२८॥

अर्थ - औपपातिक और मनुष्य के अतिरिक्त सभी जीव तिर्यंच योनि वाले होते हैं ।

स्थितिः ॥२९॥

अर्थ - यहाँ से आयु का वर्णन शुरू होता है ।

भवनेषु दक्षिणाऽर्धा-ऽधिपतीनां पल्योपम-मध्यर्धम् ॥३०॥

अर्थ - भवनपतियों में दक्षिणार्द्ध के इन्द्रों की आयु डेढ़ पल्योपम होती है ।

शेषाणां पादोने ॥३१॥

अर्थ - शेष इन्द्रों की आयु पौने दो पल्योपम होती है ।

असुरेन्द्रयोः सागरोपम-मधिकं च ॥३२॥

अर्थ - दो असुरेन्द्रों की आयु क्रमशः एक सागरोपम और एक सागरोपम से कुछ अधिक होती है ।

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥३३॥

अर्थ - सौधर्म आदि देवलोक में देवों की आयु क्रमशः होती है ।

सागरोपमे ॥३४॥

अर्थ - सौधर्म देवलोक में दो सागरोपम की आयु होती है ।

अधिके च ॥३५॥

अर्थ - ईशान देवलोक में दो सागरोपम से कुछ अधिक होती है ।

सप्त सानत्कुमारे ॥३६॥

अर्थ - सानत्कुमार में सात सागरोपम की आयु होती है ।

विशेष-त्रि-सप्त-दशैकादश-त्रयोदश-पंचदशभि-रधिकानि च ॥३७॥

अर्थ - माहेन्द्र देवलोक से आरण-अच्युत तक क्रमशः कुछ अधिक सात सागरोपम आयु होती है ।

आरणा-ऽच्युतादूर्ध्व-मेकैकेन नवसुग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥३८॥

अर्थ - आरण-अच्युत के ऊपर नौ ग्रैवेयक, चार विजयादि और सर्वार्थसिद्ध की स्थिति अनुक्रम से एक-एक सागरोपम अधिक है ।

अपरा पल्योपम-मधिकं च ॥३९॥

अर्थ - सौधर्म और ईशान में जघन्य आयु क्रमशः एक पल्योपम और अधिक एक पल्योपम होती है ।

सागरोपमे ॥४०॥

अर्थ - सानत्कुमार की आयु दो सागरोपम होती है।

अधिके च ॥४१॥

अर्थ - माहेन्द्र में कुछ अधिक दो सागरोपम होती है।

परतः परतः पूर्वा-पूर्वा-ऽनन्तराः ॥४२॥

अर्थ - माहेन्द्र के बाद के देवलोकों में अपने-अपने से पहले के देवलोक की उत्कृष्ट आयु ही अपनी रूप जघन्य आयु होती है।

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥४३॥

अर्थ - दूसरी से सातवीं नारक तक पहले-पहले के नारक की उत्कृष्ट आयु बाद-बाद के नरक की जघन्य आयु होती है।

दशवर्ष-सहस्त्राणि प्रथमायाम् ॥४४॥

अर्थ - प्रथम नरक में जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

भवनेषु च ॥४५॥

अर्थ - भवनपति देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

र्व्यन्तराणां च ॥४६॥

अर्थ - व्यन्तर देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

परापल्योपमम् ॥४७॥

अर्थ – व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु १ पल्योपम होती है।

ज्योतिष्काणा-मधिकम् ॥४८॥

अर्थ – ज्योतिष्क (सूर्य,चन्द्र) की उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पल्योपम है।

ग्रहाणा-मेकम् ॥४९॥

अर्थ – ग्रहों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम होती है।

नक्षत्राणा-मर्धम् ॥५०॥

अर्थ – नक्षत्रों की आयु आधा पल्योपम (१/२) होती है।

तारकाणां चतुर्भागः ॥५१॥

अर्थ – तारों की उत्कृष्ट आयु चौथा भाग (१/४) पल्योपम होती है।

जघन्य त्वष्टभागः ॥५२॥

अर्थ – तारों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवाँ भाग (१/८) होती है।

चतुर्भागः शेषाणाम् ॥५३॥

अर्थ – शेष ज्योतिष्क देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चौथ भाग (१/४) होती है।

● ● ●

पंचम अध्याय

अजीवकाया धर्मा-ऽधर्मा-ऽऽकाश-पुद्‌गलाः ॥१॥

अर्थ - धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्‌गल - ये चार अजीवकाय हैं ।

द्रव्याणि जीवाश्च: ॥२॥

अर्थ - धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशा-स्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय - ये पाँचों द्रव्य है ।

नित्या-ऽवस्थितान्यरूपाणि च ॥३॥

अर्थ - उक्त द्रव्य नित्य है, अवस्थित है और अरूपी है ।

रूपिणः पुद्‌गलाः ॥४॥

अर्थ - पुद्‌गल द्रव्य रूपी हैं ।

आ आकाशादेक द्रव्याणि ॥५॥

अर्थ - आकाश तक एक-एक द्रव्य है ।

निष्क्रियाणि च ॥६॥

अर्थ - तथा निष्क्रिय हैं ।

असंख्येयाः प्रदेशा धर्मा-ऽधर्मयोः ॥७॥

अर्थ - धर्म और अधर्म-द्रव्यों के असंख्यात प्रदेश हैं ।

जीवस्य च ॥८॥

अर्थ - एक-एक जीव द्रव्य के भी असंख्यात प्रदेश हैं ।

आकाशस्या-ऽनन्ताः ॥९॥

अर्थ - आकाश के अनंत प्रदेश हैं ।

संख्येया-ऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥१०॥

अर्थ - पुद्गल द्रव्य के संख्यात, असंख्यात तथा अनंत प्रदेश भी हैं।

नाणोः ॥११॥

अर्थ - अणु (परमाणु) के प्रदेश नहीं होते हैं।

लोका-ऽऽकाशे-ऽवगाहः ॥१२॥

अर्थ - सभी द्रव्य लोकाकाश में रहते हैं।

धर्मऽधर्मयोःकृत्स्ने ॥१३॥

अर्थ - धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त हैं।

एक प्रदेशाऽऽदिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥१४॥

अर्थ - पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश परिमाण होने योग्य है।

असंख्येय-भागाऽऽदिषु जीवानाम् ॥१५॥

अर्थ - जीवद्रव्य का अवगाह लोकाकाश के असंख्यात भाग से लेकर समस्त लोकाकाश में है।

प्रदेशसंहार-विसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

अर्थ - क्योंकि दीपक की तरह उनके प्रदेशों का संकोच और विस्तार होता है।

गति-स्थित्युपग्रहौ-धर्मा-ऽधर्मयो-रूपकारः ॥१७॥

अर्थ - गति और स्थिति में निमित्त बनना क्रमशः धर्म और अधर्म द्रव्यों का कार्य है।

आकाशस्या-ऽवगाहः ॥१८॥

अर्थ - स्थान प्रदान करना आकाश द्रव्य का कार्य है।

शरीर-वाङ्-मनः-प्राणा-ऽपानाःपुद्गलानाम् ॥१९॥

अर्थ - शरीर, वाणी, मन, श्वासोश्वास, ये पुद्गल द्रव्यों के उपकार हैं।

सुख-दुख-जीवित-मरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

अर्थ - सुख-दुख, जन्म-मरण भी पुद्गल द्रव्यों के उपकार हैं।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

अर्थ - परस्पर के कार्य में निमित्त होना जीवों का उपकार है।

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वा-ऽपरत्वे च कालस्य ॥२२॥

अर्थ - वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व- ये काल द्रव्य के उपकार हैं।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवन्तः पुद्गलाः ॥२३॥

अर्थ - स्पर्श, रस, गंध और वर्णवाले पुद्गल होते हैं।

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छाया-ऽऽतपोद्योतवन्तश्च ॥२४॥

अर्थ - तथा वे शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी होते हैं।

संघात-भेदेभ्य उत्पद्यन्ते ॥२६॥

अर्थ - संघात (जुड़ने), भेद (पृथक्-पृथक्) और संघात भेद (जुड़ने और पृथक् होने) इन तीनों में से किसी भी एक कारण से स्कन्ध की उत्पत्ति होती हैं ।

भेदादणुः ॥२७॥

अर्थ - स्कन्धों का भेद होने पर अणु की उत्पत्ति होती है ।

भेद-संघाताभ्यां चाक्षुषाः ॥२८॥

अर्थ - भेद और संघात से चाक्षुष स्कन्ध बनते हैं ।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत् ॥२९॥

अर्थ - जो उत्पाद (उत्पत्ति), व्यय (विनाश) और ध्रौव्य (स्थिरता) से युक्त है, वह सत् है ।

तद्भावाव्ययं नित्यम् ॥३०॥

अर्थ - जो अपने भाव से (जाति से) च्युत न हो वही नित्य है ।

अर्पिता-ऽनर्पित-सिद्धेः ॥३१॥

अर्थ - प्रधानता और गौणता के द्वारा वस्तु की सिद्धि होती है ।

स्निग्ध-रूक्षत्वाद् बन्धः ॥३२॥

अर्थ - स्निग्धत्व (चिकनेपन) और रूक्षत्व (रूखेपन) से पुद्गलों का परस्पर बन्ध होता है ।

न जघन्य-गुणानाम् ॥३३॥

अर्थ - जघन्य गुणों वाले पुद्गलों का परस्पर बंध नहीं होता है।

गुण-साम्ये सदृशानाम् ॥३४॥

अर्थ - गुणों की समानता होने पर सदृश पुद्गलों का पारस्परिक बंध नहीं होता है।

द्व्यधिकाऽऽदि-गुणानां तु ॥३५॥

अर्थ - दो या दो से अधिक अंशों में गुणों की भिन्नता होने पर पुद्गलों का पारस्परिक बंध होता है।

बन्धे समाऽधिकौ पारिणामिकौ ॥३६॥

अर्थ - बन्ध के समय, सम और अधिक गुण क्रमशः सम और हीन गुण को अपने रूप में परिणमन करानेवाले होते हैं।

गुण-पर्यायवद् द्रव्यम् ॥३७॥

अर्थ - द्रव्य गुण और पर्याय वाला होता है।

कालश्चेत्येके ॥३८॥

अर्थ - कुछ आचार्य काल को भी द्रव्य रूप मानते हैं।

सो-ऽनन्तसमयः ॥३९॥

अर्थ - वह (काल) अनन्त समय वाला है।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥४०॥

अर्थ - जो द्रव्य में सदा रहें और स्वयं गुणों से रहित हों, वे गुण कहलाते हैं।

तद्भावः परिणामः ॥४१॥

अर्थ - उसका भाव (परिणमन) परिणाम है अर्थात् स्वरूप में रहते हुए उत्पन्न तथा नष्ट होना परिणाम है ।

अनादि-रादिमांश्च ॥४२॥

अर्थ - परिणाम के दो प्रकार होते हैं - अनादि और आदिमान ।

रूपिष्वादिमान् ॥४३॥

अर्थ - रूपी द्रव्यों में आदिमान् परिणाम होता है ।

योगोपयोगौ जीवेषु ॥४४॥

अर्थ - जीव में योग और उपयोग - ये दो परिणाम आदिमान् होते हैं ।

• • •

छठा अध्याय

काय-वाङ्-मनः कर्म योगः ॥१॥

अर्थ - काया, वचन और मन की क्रिया योग है ।

स आस्त्रवः ॥२॥

अर्थ - वह (योग ही) आस्त्रव है ।

शुभः पुण्यस्य ॥३॥

अर्थ - शुभ योग पुण्य कर्म का आस्त्रव है ।

अशुभः पापस्य ॥४॥

अर्थ - अशुभ योग पाप कर्म का आस्त्रव है ।

सकषाया-ऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः ॥५॥

अर्थ - कषाय सहित आत्मा का योग साम्परायिक आस्त्रव तथा कषाय रहित आत्मा का योग ईर्यापथ आस्त्रव होता है ।

अव्रत-कषायेन्द्रिय-क्रियाः पंच-चतुः-पंच पंच-विंशति संख्या पूर्वस्य भेदाः ॥६॥

अर्थ - पूर्व के अर्थात् साम्परायिक आस्त्रव के अव्रत, कषाय, इन्द्रिय, और क्रिया - ये (चार) भेद हैं तथा क्रमानुसार इनकी संख्या पाँच, चार, पाँच और पच्चीस है ।

तीव्र-मन्द-ज्ञाता-ऽज्ञातभाव-वीर्याऽधिकरण विशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥७॥

अर्थ - तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, वीर्य विशेष और अधिकरण विशेष के भेद से उसकी (आस्त्रव की) विशेषता होती है ।

अधिकरणं जीवाऽजीवाः ॥८॥

अर्थ – अधिकरण के दो भेद हैं – जीव और अजीव।

आद्यं संरम्भ-समारम्भा-ऽऽरम्भ-योग-कृत-कारिताऽनुमत-कषाय विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥९॥

अर्थ – आद्य अर्थात् जीव अधिकरण के संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ, योग, कृत, कारित, अनुमत और कषाय ये भेद हैं। इन (भेदों) के अनुक्रम से तीन, तीन, तीन और चार भेद हैं।

निर्वर्तना-निक्षेप-संयोग-निसर्गा द्वि-चतु-र्द्वि-त्रिभेदाः परम् ॥१०॥

अर्थ – परम अर्थात् अजीव-अधिकरण के चार प्रकार हैं – निर्वर्तना, निक्षेप, संयोग और निसर्ग। इनके क्रमशः दो, चार, दो और तीन उपभेद हैं।

तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्या-ऽन्तराया-ऽऽसादनोपघाता ज्ञान-दर्शना-ऽऽवरणयोः ॥११॥

अर्थ – १. प्रदोष, २. निह्नव, ३. मात्सर्य, ४. अन्तराय, ५. आसादन और ६. उपघात – ये ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्म के बंध हेतु हैं।

दुःख-शोक-तापा-ऽऽक्रन्दन-वध-परिदेवना-न्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥१२॥

अर्थ – स्वयं, अन्य या दोनों के विषय में दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध और परिदेवन से असाता

वेदनीय कर्म का आस्रव होता है ।

भूत-व्रत्यनुकम्पा दानं सरागसंयमाऽऽदि-योगः क्षान्तिः शौच-मिति सद्वेद्यस्य ॥१३॥

अर्थ - प्राणी-अनुकम्पा, व्रती-अनुकम्पा, दान, सरागसंयम आदि योग, क्षमा और शौच से सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है ।

केवली-श्रुत-संघ-धर्म-देवा-ऽवर्णवादो दर्शन-मोहस्य ॥१४॥

अर्थ - केवली, जिनागम, संघ, धर्म और देवों पर मिथ्यादोषारोपण करने से दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव होता है ।

कषायोदयात् तीव्रा-ऽऽत्म-परिणामश्चारित्र मोहस्य ॥१५॥

अर्थ - कषाय के उदय से होने वाले आत्मा के तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के आस्रव होते हैं ।

बह्वारंभ परिग्रहत्वं च नरकास्याऽऽयुषः ॥१६॥

अर्थ - बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के भाव नरकायु के आस्रव के कारण हैं ।

माया तैर्यग्योनस्य ॥१७॥

अर्थ - माया से तिर्यंचायु का बंध होता है ।

अल्पा-ऽऽरम्भ-परिग्रहत्वं स्वभाव-मार्दवा-ऽऽर्जवं च मानुषस्य ॥१८॥

अर्थ - अल्प-आरंभ, अल्प-परिग्रह, स्वभाव में मृदुता और सरलता से मनुष्यायु का बंध होता है ।

निःशील-व्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

अर्थ - शील रहितता और व्रतरहितता पूर्वोक्त सभी आयुओं के बन्ध हेतु हैं ।

सरागसंयम-संयमासंयम-ऽकामनिर्जरा-बाल-तपांसि-दैवस्य ॥२०॥

अर्थ - सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप से देवायु का बंध होता है ।

योगवक्रता विसंवादनं चा-ऽशुभस्य नाम्नः ॥२१॥

अर्थ - योग की वक्रता और विसंवाद अशुभ नाम कर्म के बन्ध हेतु है ।

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२२॥

अर्थ - विपरीत अर्थात् योग की अवक्रता और अविसंवाद शुभ नाम कर्म के बन्ध हेतु हैं ।

दर्शनविशुद्धि-र्विनय संपन्नता शीलव्रतेष्वनति-चारोऽभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग-संवेगौ शक्तितस्त्याग-तपसी, संघ-साधु-समाधि-वैयावृत्यकरण-मर्हदा-चार्य-बहुश्रुत-प्रवचन-भक्ति- रावश्यका-ऽपरिहाणि-र्मार्ग-प्रभावना प्रवचन वत्सलत्व-मिति तीर्थकृत्तवस्य ॥२३॥

अर्थ - दर्शविशुद्धि, विनय सम्पन्नता, शील और व्रतों में अनतिचार, ज्ञानोपयोग, संवेग की निरंतरता, यथाशक्ति त्याग और तप, संघ एवं साधुओं की समाधि एवं सेवा शुश्रुषा, अरिहंत आचार्य, उपाध्याय (बहुश्रुत) एवं शास्त्र की भक्ति, आवश्यक में अहानि, मोक्षमार्ग की प्रभावना एवं साधर्मिकों के प्रति वात्सल्य ये सब तीर्थंकर नाम कर्म के बंध हेतु हैं।

पराऽऽत्म-निंदा-प्रशंसे सदसद्-गुणा-ऽऽच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२४॥

अर्थ - परनिन्दा, स्वप्रशंसा, परगुण-आच्छादन एवं असदगुणों का उद्भावन करने से नीच गोत्र कर्म का आस्त्रव होता है।

तद्विपर्ययो नीचै-वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२५॥

अर्थ - इसके विपरीत स्वनिन्दा, परप्रशंसा, स्वगुणाच्छादन, स्वदोषाभिव्यक्ति, विनम्रता और अभिमान रहितता से उच्च गोत्रकर्म का आस्त्रव होता है।

विघ्नकरण-मन्तरायस्य ॥२६॥

अर्थ - दानादि में विघ्न उपस्थित करने से अंतराय कर्म का आस्त्रव होता है।

• • •

सातवाँ अध्याय

हिंसा-ऽनृत-स्तेया-ऽब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरति-र्व्रतम् ।।१।।

अर्थ - हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँच पापों से विरक्त होना व्रत है ।

देश-सर्वतोऽणु-महती ।।२।।

अर्थ - हिंसादि पापों से आंशिक रूप से विरक्त होना ''अणुव्रत'' और सम्पूर्ण रूप से विरक्त होना ''महाव्रत'' कहलाता है ।

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ।।३।।

अर्थ - इन व्रतों की स्थिरता के लिए प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं ।

हिंसादिष्विहा-ऽमुत्रचा-ऽपाया-ऽवद्यदर्शनम् ।।४।।

अर्थ - हिंसादि (पाँचों पापों) से इस लोक में अपाय (अनर्थ) की परम्परा होती है आर परलोक में पापों के विपाकों को भुगतना पड़ता है ऐसा चिन्तन करना ।

दुःख-मेव वा ।।५।।

अर्थ - अथवा ये पाप दुख रूप ही हैं, ऐसा विचार करना।

मैत्री-प्रमोद-कारूण्य-माध्यस्थ्यानि सत्व-गुणा-ऽधिक-क्लिश्यमानाऽविनयेषु ।।६।।

अर्थ - प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणिजनों के प्रति प्रमोद भाव, दुःखी जनों के प्रति करूणा भाव और

अविनयी या अयोग्य के प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना (चिन्तन करना) ।

जगत्काय स्वभावौ च संवेग-वैराग्यार्थम् ॥७॥

अर्थ - संवेग और वैराग्य की पुष्टि के लिए जगत् (संसार) और शरीर के यथार्थ स्वरूप का विचार करना ।

प्रमत्तयोगात् प्राण-व्यपरोपणं हिंसा ॥८॥

अर्थ - प्रमादपूर्वक जीवों के प्राणों का घात करना हिंसा है ।

असदभिधान-मनृतम् ॥९॥

अर्थ - असत् बोलना अनृत (असत्य) है ।

अदत्तादानं स्तेयं ॥१०॥

अर्थ - स्वामी द्वारा बिना दिये हुए किसी वस्तु को लेना चोरी है ।

मैथुनमब्रह्म ॥११॥

अर्थ - मैथुन सेवन करना अब्रह्म है ।

मूर्च्छा परिग्रहः ॥१२॥

अर्थ - वस्तुओं में ममत्व भाव (मूर्च्छा) रखना परिग्रह है ।

निःशल्योव्रती ॥१३॥

अर्थ - जो शल्य रहित है वह व्रती है ।

अगार्यनगारश्च ॥१४॥

अर्थ - व्रती के अगारी और अनगार ये दो भेद हैं ।

अणुव्रतो-ऽगारी ॥१५॥

अर्थ - अणुव्रतों को धारण करनेवाला अगारी (गृहस्थ) व्रती है ।

दिग्देशा-ऽनर्थदण्डविरति-सामायिक-पौषधोप-वासोपभोग परिभोगपरिमाणा-ऽतिथिसंविभाग-व्रत संपन्नश्च ॥१६॥

अर्थ - वह अगारी दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड विरमण व्रत, सामायिक व्रत, पौषधोपावस व्रत, उपभोग परिभोग परिमाण व्रत और अतिथि संविभाग व्रत इन सात व्रतों से भी सम्पन्न होता है ।

मारणान्तिकीं संलेखनां जोषिता ॥१७॥

अर्थ - वह मारणान्तिक संलेखना का भी आराधक होता है ।

शङ्का-काङ्क्षा-विचिकित्सा-ऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टे-रतिचाराः ॥१८॥

अर्थ - सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार होते हैं - शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव ।

व्रत-शीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥१९॥

अर्थ - पाँच व्रतों और सात शीलों (तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत) के पाँच पाँच अतिचार होते हैं, ये क्रमशः इस प्रकार हैं ।

बन्ध-वध-छविच्छेदा-ऽतिभारारोपणा-ऽन्नपान निरोधाः ॥२०॥

अर्थ - बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभारारोपण और

अन्नपान निरोध–ये अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं ।

मिथ्योपदेश–रहस्याभ्याख्यान–कूटलेखक्रिया–न्यासापहार साकारमन्त्रभेदाः ॥२१॥

अर्थ – सत्यव्रत के पाँच अतिचार हैं – मिथ्या–उपदेश, रहस्य–अभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया न्यास–अपहार और साकारमंत्रभेद ।

स्तेनप्रयोग–तदाहृतादान–विरुद्धराज्यातिक्रम–हीनाधिक–मानोन्मान–प्रतिरूपक– व्यवहाराः ॥२२॥

अर्थ – स्तेन–प्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्ध–राज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार – ये पाँच तीसरे अस्तेय अणुव्रत के अतिचार हैं ।

परविवाह करणेत्वर परिग्रहीता–ऽपरिग्रहीतागमना–ऽनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेशाः ॥२३॥

अर्थ – परिविवाहकरण, इत्वरपरिग्रहीतागमन, अपरिग्रहीतागमन, अनंगक्रीडा और तीव्रकामाभिनिवेश – ये पाँच ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है ।

क्षेत्र–वास्तु–हिरण्य–सुवर्ण–धन–धान्य–दासी–दास–कुप्य–प्रमाणा–ऽतिक्रमाः ॥२४॥

अर्थ – क्षेत्र–वास्तु, हिरण्य–स्वर्ण, धन–धान्य, दास–दासी और कुप्य–इन पाँचों के निश्चित परिमाण से अधिक वस्तु लेना परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार हैं ।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम-क्षेत्रवृद्धि-स्मृत्यन्त-र्धानानि ॥२५॥

अर्थ - ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यति-क्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान-येदिग्व्रत के पाँच आतिचार हैं।

आनयन-प्रेष्यप्रयोग-शब्द-रूपा-ऽनुपात-पुद्गल-क्षेपाः ॥२६॥

अर्थ - आनयनप्रयोग, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप - ये पाँच अतिचार देशा-वकाशिक व्रत के हैं -

कन्दर्प-कौत्कुच्य-मौखर्या-ऽसमीक्ष्या-ऽधि-करणोपभोगा-ऽधिकत्वानि ॥२७॥

अर्थ - कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधि-करण और उपभोगाधिकत्व ये पाँच अनर्थदंड विरमणव्रत के अतिचार हैं।

योग-दृष्प्रणिधाना-ऽनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि ॥२८॥

अर्थ - मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, काय-दुष्प्रणिधान, अनादर तथा स्मृतिअनुपस्थापन ये पाँच सामायिक व्रत के अतिचार हैं।

अप्रत्यवेक्षिता-ऽप्रमार्जितोत्सर्गा-ऽऽदान-निक्षेप-संस्तारोपक्रमणा-ऽनादर-स्मृत्यनुपस्थापनानि ॥२९॥

अर्थ - अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग, अप्रत्य-वेक्षित-अप्रमार्जित आदानानिक्षेप, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-

संस्तारोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन – ये पाँच पौषधोपवास व्रत के अतिचार हैं।

सचित-संबद्ध-संमिश्रा-ऽभिषव-दुष्पक्वा-ऽऽहारा: ॥३०॥

अर्थ – सचित आहार, सचित संबद्ध आहार, सचित संमिश्र आहार, अभिषव और दुष्पक्व आहार – ये पाँच उपभोग परिभोग व्रत के अतिचार हैं –

सचित्तनिक्षेप-पिधान-परव्यपदेश-मात्सर्य-कालाऽतिक्रमा: ॥३१॥

अर्थ – सचित्त निक्षेप, सचित्त-पिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम-अतिथि संविभाग व्रत के ये पाँच अतिचार हैं।

जीवित-मरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखा-ऽनुबन्ध-निदानकरणानि ॥३२॥

अर्थ – जीवित-आशंसा, मरण-आशंसा, मित्र-अनुराग, सुख-अनुबंध और निदानकरण – ये पाँच अतिचार संलेखनाव्रत के हैं।

अनुग्रहार्थं स्वस्या-तिसर्गोदानम् ॥३३॥

अर्थ – अनुग्रह के हेतु अपनी किसी भी वस्तु का त्याग करना दान कहलाता है।

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषाच्च तद्विशेष: ॥३४॥

अर्थ – विधि, द्रव्य, दाता और पात्र इनकी विशेषता से दान धर्म के फल में विशेषता होती है।

आठवाँ अध्याय

मिथ्यादर्शना-ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा-बन्धहेतवः ॥१॥

अर्थ - मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - ये पाँच कर्मबंध के हेतु हैं ।

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते ॥२॥

अर्थ - जीव कषाय सहित होने से कर्म के योग्य कार्मण वर्गणारूप पुद्गलों को ग्रहण करता है ।

स बन्धः ॥३॥

अर्थ - वह बंध कहलाता है ।

प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशास्तद्विधयः ॥४॥

अर्थ - प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश - ये बंध के चार प्रकार हैं ।

आद्योज्ञान-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीया-ऽऽयुष्क-नाम-गोत्रा-ऽऽन्तरायाः ॥५॥

अर्थ - प्रथम प्रकृति बन्ध आठ प्रकार के हैं - ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय ।

पंच-नव-द्वयष्टाविंशति-चतु-र्द्विचत्वारिंशद्-द्वि-पंचभेदाः यथाक्रमम् ॥६॥

अर्थ - ज्ञानावरणादि आठ प्रकृतियों के क्रमशः पाँच,

नव, दो, अट्ठावीस, चार, बयालीस, दो और पाँच भेद हैं ।

मत्यादीनाम् ॥७॥

अर्थ - मति आदि पाँच ज्ञानों का आवरण करने वाले कर्म पाँच ज्ञानावरण हैं ।

चक्षु-रचक्षु-रवधि-केवलानां-निद्रा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचलाप्रचला-स्त्यानर्द्धि-वेदनीयानि च ॥८॥

अर्थ - चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल - ये चार आवरण रूप तथा निद्रा, निद्रा-निद्रा प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानर्द्धि इन पाँचों का वेदनः इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के नौ भेद हैं ।

सदसद्वेद्ये ॥९॥

अर्थ - सातावेदनीय और असातावेदनीय - ये वेदनीय कर्म के दो भेद हैं ।

दर्शन-चारित्रमोहनीय-कषाय-नोकषाय-वेद-नीयाख्यास्त्रि-द्वि-षोडश-नवभेदाः सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-तदुभयानि, कषाय-नोकषायावनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन-विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान-माया-लोभा-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुं-नपुंसकवेदाः ॥१०॥

अर्थ - मोहनीय कर्म के उत्तरभेद दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, कषायमोहनीय और नोकषायमोहनीय के क्रम से तीन, दो, सोलह और नौ भेद हैं ।

जैसे - सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, तदुभय (मिश्र) दर्शन मोहनीय के ये तीन भेद हैं। चारित्र मोहनीय के कषाय और नोकषाय ये दो भेद हैं। कषाय मोहनीय के क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार तथा इनके प्रत्येक के अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन ये चार-चार प्रकार होने से सोलह भेद हैं।

हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरूषवेद और नपुंसकवेद ये नौ नोकषाय के भेद हैं।

नारक-तैर्यग्योन-मानुष-दैवानि ॥११॥

अर्थ - नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु - ये चार आयुष्य कर्म के भेद हैं।

गति-जाति-शरीरा-ऽङ्गोपाङ्ग-निर्माण-बन्धन-संघात-संस्थान-संहनन-स्पर्श- रस-गन्ध-वर्णा-ऽऽनुपूर्व्यगुरुलधूपघात-पराघाता-ऽऽतपोद्योतोच्छ्वास-विहायोगतयः प्रत्येकशरीर-त्रस-सुभग-सुस्वर-शुभ-सूक्ष्म-पर्याप्त-स्थिरा-ऽऽदेय- यशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च ॥१२॥

अर्थ - गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरूलघु, उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति ये इक्कीस (२१) और प्रतिपक्ष सहित बीस जैसे-प्रत्येक, साधारण, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर,

दुस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यश और अपयश तथा तीर्थंकर नाम ये नाम कर्म के ४२ भेद हैं ।

उच्चै-र्नीचैश्च ॥१३॥

अर्थ - उच्चगोत्र और नीचगोत्र - ये दो गोत्रकर्म के भेद हैं ।

दानादीनाम् ॥१४॥

अर्थ - दान आदि (अन्तराय कर्म के भेद) हैं ।

आदितस्तिसृणा-मन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम-कोटीकोटयः परा स्थितिः ॥१५॥

सप्तति-र्मोहनीयस्य ॥१६॥

नामगोत्रयो-र्विंशतिः ॥१७॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्या-ऽऽयुष्कस्य ॥१८॥

अपराद्वादश-मुहूर्ता वेदनीयस्य ॥१९॥

नामगोत्रयो-रष्टौ ॥२०॥

शेषाणा-मन्तर्मुहूर्तम् ॥२१॥

अर्थ - आदि अर्थात् प्रथम के तीन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटाकोटि सागरोपम है ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटाकोटि सागरोपम है ।

नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम है ।

आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ।

वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है ।

नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है ।

शेष पाँच कर्मों की (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयुष्य और अंतराय) जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है ।

विपाको-ऽनुभावः ॥२२॥

अर्थ – विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को ही अनुभाव (रस) कहते हैं ।

स यथानाम ॥२३॥

अर्थ – वह अनुभाव उन-उन प्रकृतियों के नाम के अनुसार ही होता है ।

ततश्च निर्जरा ॥२४॥

अर्थ – विपाक हो जाने के बाद उन कर्मों की निर्जरा हो जाती है ।

नाम-प्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रा-ऽवगाढ-स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्व नन्तानन्त-प्रदेशाः ॥२५॥

अर्थ – नाम अर्थात् कर्मप्रकृतियों के कारण और सभी

ओर से योगों की क्रिया द्वारा सूक्ष्म एक क्षेत्र में स्थित स्थिर अनन्तानन्त प्रदेशवाले (कर्म) पुद्‌गलस्कंध आत्मा के सभी प्रदेशों में दृढ़तापूर्वक बंध जाते हैं, वह प्रदेश बंध है ।

सद्वेद्य, सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरूषवेद-शुभायु-र्नाम-गोत्राणि पुण्यम् ॥२६॥

अर्थ - सातावेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरूषवेद, शुभ आयु, शुभनाम और शुभ गोत्र ये आठ पुण्य प्रकृतियाँ हैं ।

● ● ●

नौवाँ अध्याय

आस्रव-निरोधः संवरः ॥१॥

अर्थ - आस्रव का निरोध ही संवर है ।

स गुप्ति-समिति-धर्माऽनुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः ॥२॥

अर्थ - वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है ।

तपसा निर्जरा च ॥३॥

अर्थ - तप से संवर और निर्जरा दोनों होते हैं ।

सम्यग् योग निग्रहो गुप्तिः ॥४॥

अर्थ - योगों का सम्यग् निग्रह करना गुप्ति है ।

ईर्या-भाषैषणा-ऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

अर्थ - ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग - ये पाँच समितियाँ है ।

उत्तमः क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥

अर्थ - क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अंकिचन्य और ब्रह्मचर्य ये दस प्रकार के उत्तम धर्म हैं ।

अनित्या-ऽशरण-संसारैकत्वा-ऽन्यत्वा-ऽशुचित्वा-ऽऽस्त्रव- संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

अर्थ - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व,

अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्त्व-इनका अनुचिंतन करना ही अनुप्रेक्षा (भावना) है ।

मार्गा-ऽच्यवन-निर्जरार्थं-परिसोढव्याः परीषहाः ॥८॥

अर्थ - मोक्ष मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जो सहन करने योग्य है, उन्हें परीषह कहते हैं ।

क्षुत्-पिपासा-शीतोष्ण-दंशमशक-नाग्न्या-ऽरति-स्त्री-चर्या- निषद्या-शय्या-ऽऽक्रोश-वध-याचना-ऽलाभ-रोग-तृणस्पर्श- मल-सत्कार पुरस्कार-प्रज्ञा-ऽज्ञाना-ऽदर्शनानि ॥९॥

अर्थ - क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषधा, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन - ये परीषह के बाईस प्रकार हैं।

सूक्ष्मसंपराय-छद्मस्थ-वीतरागयो-श्चतुर्दश ॥१०॥

अर्थ - सूक्ष्मसंपराय, उपशांतमोह और क्षीणमोह गुणस्थानो में चौदह परीषह होते हैं ।

एकादश जिने ॥११॥

अर्थ - जिनेन्द्र भगवान को अर्थात् १३वें गुणस्थान में ग्यारह परीषह हो सकते हैं ।

बादर संपराये सर्वे ॥१२॥

अर्थ - बादर सम्पराय तक सभी (बाईस) परीषह होते हैं ।

ज्ञानावरणे प्रज्ञा-ऽज्ञाने ॥१३॥

अर्थ - प्रज्ञा और अज्ञान - ये दो परीषह ज्ञाना-वरणीय कर्म से संबंधित हैं ।

दर्शनमोहा-ऽन्तराययो-रदर्शना-ऽलाभौ ॥१४॥

अर्थ - दर्शन मोह के उदय से अदर्शन और अंतराय कर्म के उदय से अलाभ परीषह होता है ।

चारित्रमोहे नाग्न्या-ऽरति-स्त्री-निषद्या-ऽऽक्रोश-याचना-सत्कार-पुरस्काराः ॥१५॥

अर्थ - चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार - ये सात परीषह होते हैं ।

वेदनीये शेषाः ॥१६॥

अर्थ - शेष परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं ।

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ॥१७॥

अर्थ - एक जीव को एक साथ एक से उन्नीस परीषह तक हो सकते हैं ।

सामायिक-छेदोपस्थाप्य-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसंपराय-यथाख्यातानि चारित्रम् ॥१८॥

अर्थ - सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि,

सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात - ये चारित्र के पाँच प्रकार हैं।

अनशन-ऽवमौदर्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन- कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

अर्थ - अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग विविक्तशय्यासन और कायक्लेश - ये बाह्य तप के छः प्रकार हैं।

प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

अर्थ - प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये अभ्यंतर तप के छः प्रकार हैं।

नव-चतुर्दश-पंच-द्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानाद् ॥२१॥

अर्थ - ध्यान से पहले के आभ्यंतर तपों के क्रमशः नौ, चार, दस, पाँच और दो (उत्तर) भेद हैं।

आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेद-परिहारोपस्थापनानि ॥२२॥

अर्थ - आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय (आलोचना और प्रतिक्रमण) विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार एवं उपस्थापना ये प्रायश्चित के नौ भेद हैं।

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचाराः ॥२३॥

अर्थ - ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार ये विनय के चार भेद हैं।

आचार्योपाध्याय-तपस्वि-शैक्षक-ग्लान-गण-कुल-संघ-साधु- समनोज्ञानाम् ॥२४॥

अर्थ - आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्षक, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु एवं समनोज्ञ (साधर्मिक) इनकी सेवाशुश्रुषा करना वैयावृत्य तप है ।

वाचना-पृच्छना-ऽनुप्रेक्षा-ऽऽम्नाय-धर्मोपदेशाः ॥२५॥

अर्थ - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय एवं धर्मोपदेश - ये पाँच प्रकार के स्वाध्याय हैं ।

बाह्या-ऽऽभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

अर्थ - बाह्य और आभ्यंतर उपधि का त्याग - ये दो भेद व्युत्सर्ग तप के हैं ।

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम् ॥२७॥

अर्थ - उत्तम संहनन वालों का एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना ध्यान है ।

आमुहूर्तात् ॥२८॥

अर्थ - यह अंतर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है ।

आर्त-रौद्र-धर्म-शुक्लानि ॥२९॥

अर्थ - ध्यान के चार भेद हैं - आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ।

परे मोक्षहेतु ॥३०॥

अर्थ - परे अर्थात् अंत के दो ध्यान मोक्ष के कारण हैं ।

आर्त्त-ममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति-समन्वाहारः ॥३१॥

अर्थ - अनिष्ट पदार्थ / व्यक्ति का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए सतत् चिन्ता करना प्रथम आर्त्तध्यान है ।

वेदनायाश्च ॥३२॥

अर्थ - वेदना होने पर उसे दूर करने के लिए सतत् चिन्ता करना द्वितीय आर्त्तध्यान है ।

विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥३३॥

अर्थ - इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत् चिन्ता करना तीसरा आर्त्तध्यान है ।

निदानं च ॥३४॥

अर्थ - धर्माराधना के फलस्वरूप सांसारिक वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत् चिंतन करना चतुर्थ आर्त्तध्यान है।

तदविरत-देशविरत-प्रमत्तसंयतानाम् ॥३५॥

अर्थ - यह आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत तक होता है ।

हिंसा-ऽनृत-स्तेय-विषयसंरक्षणेभ्यो-रौद्रमविरत-देशविरतयोः ॥३६॥

अर्थ - हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण - इन चार का सतत् चिन्तन करना रौद्रध्यान है, जो अविरत और देशविरत जीवों को होता है ।

आज्ञा-ऽपाय-विपाक-संस्थान-विचयायधर्म-मप्रमत्त संयतस्य ॥३७॥

अर्थ - आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान - इनका विचार करने के लिए चित्त को एकाग्र करना धर्मध्यान है जो अप्रमत्तसंयत को होता है ।

उपशांत-क्षीणकषाययोश्च ॥३८॥

अर्थ - उपशांत कषाय और क्षीणकषाय गुणस्थान वाले जीवों को भी धर्मध्यान सम्भव है ।

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३९॥

अर्थ - प्रारम्भ के दो शुक्ल ध्यान उपशांत मोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में होते हैं। ये दोनों शुक्ल ध्यान पूर्वधर को होते हैं।

परे केवलिनः ॥४०॥

अर्थ - अगले दो शुक्लध्यान केवलियों को होते हैं।

पृथक्त्वैकत्ववितर्क-सूक्ष्मक्रिया-ऽप्रतिपाति-व्युपरत क्रियाऽनिवृत्तीनि ॥४१॥

अर्थ - शुक्लध्यान के चार भेद हैं - पृथक्त्ववितर्क (सविचार), एकत्व वितर्क (अविचार), सूक्ष्मक्रिया - अप्रतिपाति और व्युपरत क्रिया-अनिवृत्ति ।

तत्र्येक-काययोगा-ऽयोगानाम् ॥४२॥

अर्थ - शुक्लध्यान के चार भेद क्रमशः तीन योगवाले को, एक योगवाले को, काय योगवाले को और योगरहित को होते हैं।

एका-ऽऽश्रये सवितर्के पूर्वे ॥४३॥

अर्थ - पहले के दो शुक्लध्यान एकाश्रित और सवितर्क अर्थात् पूर्वगत श्रुत का आलम्बन लेने वाले होते हैं।

अविचारं द्वितीयं ॥४४॥

अर्थ - दूसरा ध्यान अविचार है।

वितर्कःश्रुतम् ॥४५॥

अर्थ - वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान है।

विचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिः ॥४६॥

अर्थ - अर्थ, व्यंजन (शब्द) और योग की संक्रान्ति (परिवर्तन) को विचार कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि-श्रावक-विरता-ऽनन्तवियोजक-दर्शनमोह क्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपक-क्षीणमोह-जिनाः क्रमशो-ऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४७॥

अर्थ - सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत (साधु), अनंतानुबंधी-वियोजक, दर्शनमोहक्षपक, मोहउपशमक, उपशान्तमोह, मोहक्षपक, क्षीणमोह एवं जिन - ये दस स्थान अनुक्रम से पूर्व पूर्व की अपेक्षा असंख्यात गुणा निर्जरा वाले होते हैं।

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः ॥४८॥

अर्थ - प्रस्तुत सूत्र में निर्ग्रन्थों के पाँच प्रकार बताये हैं।

'निर्ग्रन्थ' शब्द का अर्थ होता है – ग्रन्थि से रहित। आध्यात्मिक क्षेत्र में ग्रन्थि अर्थात् गांठ होती है – राग की, द्वेष की, मोह की, परिग्रह आदि की। अतः ऐसे साधक जिसमें राग-द्वेष की गांठ न हो उन्हें निर्ग्रन्थ कहते हैं।

संयम-श्रुत-प्रतिसेवना-तीर्थ-लिंग-लेश्योपपात-स्थान-विकल्पतः साध्याः ॥४९॥

अर्थ – संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपात और स्थान इन आठ द्वारों से पुलाकादि निर्ग्रन्थों का स्वरूप जानना चाहिए।

• • •

दशवाँ अध्याय

मोहक्षयाद् ज्ञान-दर्शनावरणा-ऽन्तराय-क्षयाच्च केवलम् ॥१॥

अर्थ - मोहनीय तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय के क्षय से केवलज्ञान प्रकट होता है ।

बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्याम् ॥२॥

अर्थ - बंध हेतुओं के अभाव से और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है ।

कृत्स्न-कर्म-क्षयो मोक्षः ॥३॥

अर्थ - सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है ।

औपशमिकादि-भव्यत्वा-ऽभावाच्चा-ऽन्यत्र-केवल-सम्यक्त्व-ज्ञान- दर्शन सिद्धत्वेभ्यः ॥४॥

अर्थ - क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और सिद्धत्व को छोड़कर शेष औपशमिक आदि भावों के तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष प्रकट होता है ।

तदनन्तर-मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्ताद ॥५॥

अर्थ - समस्त कर्मों का क्षय होने पर आत्मा ऊपर लोकांत तक जाती है ।

पूर्वप्रयोगा-दसङ्गत्वाद्-बन्ध-विच्छेदात्तथागति-परिणामाच्च तद्गतिः ॥६॥

अर्थ – पूर्व प्रयोग, संग–अभाव, बन्ध–विच्छेद तथा गति–परिणाम इन चार हेतुओं से आत्मा ऊर्ध्व गति करती है।

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक-बुद्धबोधित-ज्ञाना-ऽवगाहना-ऽन्तर- संख्या-ऽल्पबहुत्वत: साध्या: ॥७॥

अर्थ – क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अंतर, संख्या, अल्प बहुत्व – इन बारह द्वारों से सिद्ध जीवों का स्वरूप समझना चाहिए।

• • •

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार परिचय

(१) शा. सरेमल जवेरचंदजी बेडावाला परिवार द्वारा स्वद्रव्य से संवत् २०६३ में निर्मित...

(२) गुरुभगवंतो के अभ्यास के लिये २५०० प्रताकार ग्रंथ व २१००० से ज्यादा पुस्तको के संग्रह में से ३३००० से ज्यादा पुस्तके इस्यु की है...

(३) श्रुतरक्षा के लिए ४५ हस्तप्रत भंडारो को डिजिटाईजेशन के द्वारा सुरक्षित किया है और उस में संग्रहित ८०००० हस्तप्रतो में से १८०० से ज्यादा हस्तप्रतो की झेरोक्ष विद्वान गुरुभगवंतो को संशोधन संपादन के लिये भेजी है...

(४) जीर्ण और प्रायः अप्राप्य २२२ मुद्रित ग्रंथो को डिजिटाईजेशन करके मर्यादित नकले पुनः प्रकाशित करके श्रुतरक्ष व ज्ञानभंडारो को समृद्ध बनाया है...

(५) अहो ! श्रुतज्ञानम् चातुर्मासिक पत्रिका के ४६ अंक श्रुतभक्ति के लिये स्वद्रव्य से प्रकाशित किये है...

(६) ई-लायब्रेरी के अंतर्गत ९००० से ज्यादा पुस्तको का डिजिटल संग्रह पीडीएफ उपलब्ध है, जिसमें से गुरुभगवंतो की जरुरियात के मुताबिक मुद्रित प्रिन्ट नकल भेजते है...

(७) हर साल पूज्य साध्वीजी म.सा. के लिये प्राचीन लिपि (लिप्यंतरण) शीखने का आयोजन...

(८) बच्चों के लिये अंग्रेजी में सचित्र कथाओं को प्रकाशित करने का आयोजन...

(९) अहो ! श्रुतम् ई परिपत्र के द्वारा अद्यावधि अप्रकाशित आठ कृतिओं को प्रकाशित की है...

(१०) नेशनल बुक फेर में जैन साहित्य की विशिष्ट प्रस्तुति एवं प्रचार प्रसार।

(११) पंचम समिति के विवेकपूर्ण पालन के लिये उचित ज्ञान का प्रसार एवं प्रायोगिक उपाय का आयोजन।

(१२) चतुर्विध संघ उपयोगी प्रियम् के ६० पुस्तको का डिजिटल प्रिन्ट द्वारा प्रकाशन व गुरुभगवंत व ज्ञानभंडारो के भेट।

● ● ●

: ज्ञान द्रव्य से लाभार्थी :

श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन संघ

210/212, कोकरन बेसिन रोड,
विद्यासागर ओसवाल गार्डन,
कुरूक्कुपेट, चेन्नई 600021

BALARAM OFFSET
+91-9898034899